U.G.C. Serial No. 02, Journal No. 49335 ISSN - 0974-1526

SAṀSKṚTI SANDHĀNA

Volume - XXX No. 2 (July-December) 2017

REFERRED JOURNAL

Editor
Dr. Jhinkoo Yadav

JOURNAL OF THE RESEARCH
INSTITUTE OF HUMAN CULTURE, VARANASI

विषयानुक्रमणिका
Content

			पृष्ठ सं०
	सम्पादकीय		i-iii
१.	श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमुख सोपान : कर्मयोग	महेन्द्र नाथ सिंह	१-९
२.	प्राचीन भारतीय सामाजिक जीवन में धर्म एवं दर्शन की महत्ता	शिवशंकर	१०-१५
३.	शाक्तागम का परिचय	शेषनाथ तिवारी	१६-२२
४.	मध्य गंगा घाटी से प्राप्त वात्सल्य प्रकार की मृण्मूर्तियाँ	सर्वेश कुमार अभय कुमार	२३-२७
५.	साँची महास्तूप के तोरण द्वार : शिल्पकला के गौरवगाथा	शरदेन्दु कुमार त्रिपाठी	२८-३३
६.	बौद्ध धर्म में तंत्र का विकास	राम प्रकाश यादव	३४-४१
७.	प्राचीन भारत के आर्थिक विकास में "वार्ता" की उपादेयता	कमलेश कुमार तिवारी	४२-४६
८.	जातकों में वर्णित बौद्धेतर सम्प्रदाय	राजेश कुमार गौतम	४७-५४
९.	तीर्थों का स्वरूप एवं महत्त्व (पुराणों के विशेष परिप्रेक्ष्य में)	प्रज्ञा पाण्डेय	५५-६६
१०.	अभिलेखीय साक्ष्यों में पर्यावरणीय संरक्षण : मौर्यकाल के विशेष परिप्रेक्ष्य में	रश्मि सिंह	६७-७०
११.	ब्राह्मी लिपि के उद्वाचन का इतिहास	विजयकांत यादव	७१-७७
१२.	प्राचीन भारतीय भूगोल के अध्ययन में अलेक्जेण्डर कनिंघम का योगदान: मध्य भारत के विशेष सन्दर्भ में	अर्पिता चटर्जी	७८-८२
१३.	पुराण, आगम, शिल्प एवं वास्तुशास्त्रों में नवदुर्गा प्रतिमा	मीना सिंह	८३-८८
१४.	पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण और उनका प्रभाव	एस.एन. उपाध्याय	८९-९२
१५.	पूर्व मध्यकालीन दक्षिण भारत में सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में मंदिरों की भूमिका	प्रियंका सिंह	९३-९८
१६.	पूर्वमध्यकालीन भारत में शिक्षा का स्वरूप	सुरेन्द्र कुमार यादव	९९-१०९
१७.	आचार्य मम्मट प्रतिपादित लक्षणा : एक विवेचन	चन्दन लाल गुप्ता एस राधाकृष्णन	११०-११६
१८.	काव्यशास्त्र में माधुर्यगुण मीमांसा : एक अवलोकन	गोपाल लाल मीना	११७-१२५
१९.	ब्रह्मविहार : सुख और शान्ति प्रदायक	मधु शर्मा	१२६-१२९

पूर्वमध्यकालीन भारत में शिक्षा का स्वरूप

सुरेन्द्र कुमार यादव*

किसी भी राष्ट्र की शिक्षा पद्धति का स्वरुप वहाँ के राजनीतिक व्यवस्था, सामाजिक दशा एवं धार्मिक स्वरुप आदि पर निर्भर करता है। हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् से लेकर बारहवीं शताब्दी ईस्वीं तक का काल भारत में 'राजपूतकाल' या 'पूर्वमध्यकाल' के नाम से जाना जाता है। यह भारत में राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का काल था, जब स्थानीय सामन्तों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करते हुए छोटे-छोटे राज्यों के रूप में अपने राजवंशों की स्थापना की। उत्तर भारत के इन क्षेत्रीय राजनीतिक शक्तियों में गुर्जर, प्रतिहार, पाल, कलचुरि, परमार, चौहान एवं गहड़वाल आदि तथा दक्षिण भारत में चोल, चालुक्य, पल्लव एवं राष्ट्रकूट आदि राजवंश प्रमुख थे। पूर्वमध्यकालीन भारत के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थिति का सीधा प्रभाव शैक्षणिक गतिविधियों पर पड़ा। तत्कालीन भारत में क्षेत्रीय, स्थानीय जनभाषा एवं लोकभाषा का शिक्षा में प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इसके फलस्वरुप सम्पूर्ण मध्यकालीन भारत में समान शिक्षा प्रणाली विकसित नहीं हो पायी। इसके अतिरिक्त इस काल में राजनैतिक अस्थिरता ने भी शिक्षा प्रणाली के विकास में अवरोध उत्पन्न किया। यद्यपि क्षेत्रीय राजवंशों ने स्थानीय स्तर पर शिक्षा के विकास के लिये अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये। प्रस्तुत शोध पत्र में पूर्वमध्यकालीन भारत में शैक्षिक व्यवस्था के विविध पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है। शैक्षिक व्यवस्था से तात्पर्य शिक्षा प्रणाली या तंत्र से है, जिसमें उसके विभिन्न अंग यथा शिक्षा के केन्द्र, प्रशासन, विद्यार्थी, शिक्षक, पाठ्यक्रम, अनुशासन, शिक्षण विधि, मूल्यांकन पद्धति एवं शैक्षिक मूल्य आदि सम्मिलित है।

शिाक्षा का महत्व एवं उद्देश्य : भारत में वैदिक काल से लेकर पूर्वमध्यकाल तक शिक्षा मूल्यों पर आधारित था। मूल्यरहित शिक्षा का जीवन में कोई महत्व नहीं था। समस्त शैक्षणिक गतिविधियाँ एवं धार्मिक ग्रन्थ मुक्तकण्ठ से मूल्य शिक्षा पर बल देते हैं। मूल्य शिक्षा राष्ट्र के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक उन्नति की मूल आधार शिला रही। शिक्षा का एक अन्य उद्देश्य व्यक्तित्व का बहुमुखी विकास करना तथा व्यक्ति को अपने सामाजिक दायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वहन करना भी था। विद्यार्थी को विभिन्न शास्त्रों, व्यवसायों तथा उद्योगों की शिक्षा देकर समाज के सुख में वृद्धि करना था।[1] समाज में संस्कारों द्वारा जीवन के विविध कार्यों को निष्पादित किया जाता था। सोलह संस्कारों में शिक्षा से संबंधित विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ या गोदान एवं समापवर्तन संस्कार सम्मिलित हैं। विद्यारम्भ के अन्तर्गत अक्षर

* सहायक प्राध्यापक, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व, डॉ० हरिसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय, सागर, म०प्र०।

एवं वर्णमाला से शिक्षा का प्रारम्भ किया जाता था। अपरार्क एवं स्मृतिचन्द्रिका ने मार्कण्डेयपुराण को उद्घृत करते हुये संतान के विद्यारम्भ की आयु पाँच वर्ष निर्देशित की है।[२] इत्सिंग नामक चीनी यात्री ने बालकों की प्रारम्भिक शिक्षा 'सिद्धिरस्तु' नामक ग्रन्थ से मानी है, जिसमें वर्णमाला, स्वर और व्यंजन का विनियोग था।[३] पूर्वमध्यकाल के प्रारम्भिक शिक्षा में लेखन सामग्री के अन्तर्गत भोजपत्र, मयूरपंख के अतिरिक्त काली पटिया एवं खड़िया का प्रयोग किया जाता था। अलबेरुनी के अनुसार बालक विद्यालय में काली तख्ती लाते थे, जिसपर सफेद वस्तु से लिखते थे।[४] निश्चित रुप से सफेद वस्तु खड़िया रही होगी।

बालक के शिक्षा का सुव्यवस्थित ढ़ंग से प्रारम्भ उपनयन संस्कार के पश्चात होता था। उपनयन संस्कार से शूद्र तथा स्त्रियाँ वंचित थी। छात्र उपनयन संस्कार के पश्चात गृह त्यागकर गुरु के सानिध्य में जाता था वहीं गुरुकुल में रहकर शिक्षा ग्रहण करता था। विहारों एवं देवालयों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए भव्य भवन बने हुए थे। प्राथमिक शिक्षा ब्राह्मणों के घर में चलने वाले विद्यालयों में प्रदान की जाती थी। इन विद्यालयों के रख रखाव तथा जीवन निर्वाह के लिए राजा तथा समाज के सम्पन्न लोग अग्रहार भूमि दान में देते थे। यह भूमि सभी प्रकार के करों से मुक्त होती थी तथा शिक्षण संस्था के रूप में कार्य करती थी। राजा यशस्कर ने ५५ अग्रहार तथा समस्त प्रकार के भौतिक संसाधनों को उपहार में दान किया था।[५] भूमि अनुदान का प्रचलन अधिक था। अग्रहार, चतुर्वेदी, मंगलम्, आदि गॉव कर रहित भूमिदान के थे, जो ब्राह्मणों को प्रदान किये जाते थे। ब्राह्मण इन सभी भूमिदानों से प्राप्त आय से शिक्षा प्रणाली एवं शिक्षा केन्द्रों की व्यवस्था को संचालित करने का काम करते थे। भूमिदानों ने शिक्षा केन्द्रों की आर्थिक सहायता में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया था।

शिक्षक : प्राचीन भारतीय समाज में शिक्षक का स्थान अत्यन्त आदरयुक्त, गरिमामय एवं प्रतिष्ठित था। उसे आचार्य, उपाध्याय, प्रवक्ता, अध्यापक, गुरु, ऋत्विक् एवं चरक आदि नामों से जाना जाता था। शिक्षक की योग्यता उसके स्वाध्याय एवं प्रवचन में निहित थी। साथ ही उसमें अनुशासन, सत्याचरण, सत्यभाषण, सहिष्णुता, संयम एवं चित्त की एकाग्रता का भी होना अनिवार्य था। उसका भारतीय शिक्षा प्रणाली में अत्यधिक महत्त्व था। शिक्षक विविध शास्त्रों का ज्ञाता होता था। उसमें वाक्चातुर्य, भाषण–पटुता, प्रत्युत्पन्नमतित्व, तार्किकता एवं वक्ता का होना आवश्यक था। वह नम्रता और निभृतात्मा का सच्चा स्वरुप ही नही, बल्कि सत्य भाषण करने में अप्रतिम था। वह जिस विषय को नही जानता था, उसके लिये वह अविलम्ब अपनी असमर्थता व्यक्त कर देता था।[६] विद्यार्थी शिक्षक के प्रति अत्यधिक सम्मान का भाव रखते थे। भौतिक जन्म के पश्चात् शिक्षक शिक्षा द्वारा बौद्धिक पुनर्जन्म करता था। ठीक उच्चारण के साथ वेद का ज्ञान केवल उचित शिक्षक के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता था। बड़े – बड़े चक्रवर्ती राजा आचार्यों से उपदेश लेने के लिए आश्रमों में आते थे। यदि कहीं एक राजा और एक योग्य गुरू स्नातक दोनों खड़े हाते थे तो जनता राजा से अधिक सम्मान स्नातक का करती थी।

शिक्षक की आय: पूर्वमध्यकाल में शिक्षक के आय का स्रोत सामान्यतः दान–

दक्षिणा पर निर्भर था। वह शिष्यों द्वारा भिक्षाटन से प्राप्त सामग्रियों एवं दान-दक्षिणा से प्राप्त धन से ही जीवन का निर्वहन करते थे। शिष्य गुरुदक्षिणा के रुप में जो कुछ गुरु को देता था, वही उसकी आय होती थी। हुएनसांग के अनुसार विद्यार्थी गुरु द्वारा माँगी गयी दक्षिणा प्रदान करता था।[७] कल्हण ने भी गुरु के निमित्त दान प्रवृत्ति की प्रशंसा की है।[८] शिक्षक के आय का एक अन्य स्रोत भूमिदान था। पूर्वमध्यकाल में अनेक ऐसे शासक हुये जिन्होंने विद्वानों को दान में भूमि भी प्रदान की। सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में वर्णित है कि राजकुमार अपनी शिक्षा पूरी करने के उपरान्त आचार्य को वस्त्र, स्वर्ण, भूमि और कभी-कभी गाँव दक्षिणा में प्रदान कर दिया करते थे।[९] सौराष्ट्र के शासक गोविन्दराज ने अनेक शिष्यों की देख-भाल करने वाले ब्राह्मण आचार्य को अनेक भूमिखण्ड दान में दिये।[१०] विक्रमादित्य षष्ठ के समय में एक ब्राह्मण ने १०४ महाजनों को अपनी दान में दी हुयी भूमि का न्यासी (ट्रस्ट) नियुक्त किया। इस न्यास के अन्तर्गत कुछ भूमिखण्ड एवं भवन ऐसे शिक्षकों के निर्वहन के लिये दिये जो विविध विषयों का अध्यापन करते थे।[११] सबसे अधिक भूमि अनुदान के अभिलेखीय साक्ष्य चोल राजाओं के मिले हैं।

गुरु-शिष्य संबंधः पूर्वमध्यकाल में गुरु एवं शिष्य के मध्य का संबंध बहुत ही घनिष्ठ था। वास्तव में यह संबंध पिता-पुत्र जैसा था। गुरु अपने शिष्य के प्रति स्नेह-सिक्त, गरिमा एवं सम्मानयुक्त होता था। वे निष्पक्ष, न्यायकर्ता तथा शान्त स्वभाव के होते थे। वे स्वाध्याय में निरत तथा शास्त्रों में पारंगत होते थे। कुशल वक्ता, प्रत्युत्पन्नमति, दार्शनिक और वाक्पटुता उनके मुख्य गुण थे। पवित्रता एवं चरित्र बल उनमें उच्च कोटि का होता था। दशकुमारचरित में गुरु की प्रशंसा करते हुये शिष्य को उनके अनुवर्ती होने का संकेत किया गया है। चन्द्रापीड़ ऐसा ही कर्तव्यनिष्ठ शिष्य था।[१२] कृत्यकल्पतरु के अनुसार शिष्य को गुरु की सभी आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता था।[१३] इत्सिंग के अनुसार शिष्य गुरु के पास रात्रि के पहले और अन्तिम पहर में आता था, उसके शरीर की मालिश करना, वस्त्र आदि संभालकर रखता था। कभी-कभी गुरु के आवास एवं आँगन में झाडू लगाता था। तत्पश्चात जल छानकर उसे पीने के लिये देता था। इस प्रकार वह अपने से बड़े के प्रति आदर प्रदर्शित करता था।[१४] यदि शिष्य रोगग्रस्त हो जाता था तो गुरु भी उसकी सेवा करता एवं उसे औषधि देता और उसके साथ पितृवत व्यवहार करता था।[१५] शिक्षा व्यवस्था निःशुल्क थी। विद्यार्थी शिक्षोपरान्त गुरु को अपने सामर्थ्य अनुसार दक्षिणा प्रदान करता था। गुरुकुल की अर्थव्यवस्था समाज के सम्पन्न वर्गों तथा राजा के द्वारा दिये गये दान से संचालित होती थी। शिक्षक, विद्यार्थी तथा गुरुकुल की आर्थिक समस्याओं का समाधान करना राज्य तथा समाज का दायित्व था। शिक्षण तथा विद्यार्थी आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त होकर विद्या की साधना में पूर्ण मनोयोग से लीन रहते थे। शिक्षक को धन संग्रह करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।[१६] शिक्षक प्रणाली पर राज्य या समाज का किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं होता था।

पाठयक्रम : पूर्वमध्यकालीन शिक्षा पर विद्वानों एवं आचार्यों का प्रभाव था। वे अपने विवेक एवं चिन्तन के अनुसार पाठ्यक्रम, शिक्षण विधि एवं शिक्षण प्रक्रिया आदि का चयन करते थे। प्रत्येक बालक को सांसारिक, नैतिक, शारीरिक, व्यावहारिक और व्यावसायिक शिक्षा दी

जाती थी। सांसारिक शिक्षा के अन्तर्गत तीन वेद ऋग्वेद, यजुर्वेद एवं सामवेद, वेदांग, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द और व्याकरण, दर्शन, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा एवं उत्तर मीमांसा तथा नीतिशास्त्र सभी को पढ़ना पड़ता था। नैतिक शिक्षा, उपदेश से तथा पारस्परिक सेवा, स्नेह और सहयोग के वातावरण के प्रयोग से प्राप्त होती थी। शारीरिक शिक्षा के लिए प्राणायाम और व्यायाम का विधान था। क्षत्रिय बालकों को धनुष-वाण तथा कारखाना आदि के संचालन और अश्वारोहण की भी शिक्षा दी जाती थी। ब्राह्मणों को पौरोहित्य, दर्शन, कर्मकाण्ड आदि विषय पढ़ाये जाते थे। क्षत्रिय को दण्डनीति, राजनीति, सैन्यशास्त्र, अर्थशास्त्र, धनुर्वेद आदि विषय पढ़ाये जाते थे। वैश्य को पशुपालन तथा कृषिशास्त्र पढ़ाया जाता था। लक्ष्मीधर ने ब्रह्मचारीकाण्ड में परम्परागत अट्ठारह विद्याओं की सूची दी है, जिसमें प्रमुख चौदह विद्याओं में चार वेद, छः अंग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण तथा सहायक विद्या आयुर्वेद, धनुर्वेद, गन्धर्व वेद तथा अर्थशास्त्र हैं।[१७] अलबेरुनी ने ज्ञान-विज्ञान के विविध विषयों का उल्लेख किया है, जिनमें चारों वेदों, अठारह पुराणों, रामायण, महाभारत, बीस स्मृतियों आदि विभिन्न विषयक मतों का उल्लेख किया।[१८] राजशेखर ने निम्न विषयों की विशाल सूची पाठ्यक्रम के लिए अनुमोदित किया है।[१९] कुवलयमालाकथा में बहत्तर विषयों का उल्लेख मिलता है। प्रभावकचरित में चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। समरादित्यकथा नामक ग्रंथ मे हरिभद्र सूरी ने पच्चासी विद्याओं का उल्लेख किया है। दाण्डिन ने अनेक विषयों की सूची प्रस्तुत की है।[२०] अन्तरिक्ष विद्या तथा ज्योतिषशास्त्र का शिक्षा प्रणाली में महत्वपूर्ण स्थान था। अलबेरुनी ने इसे हिन्दुओं का एक लोकप्रिय विषय बतलाया है।[२१] इस काल में चिकित्सा की शिक्षा भी उन्नत थी। भोज ने चिकित्साशास्त्र पर राजमृगांक, विश्रान्तविद्याविनोद, आयुर्वेदस्वर्स्व एवं राजमार्तण्डयोगसारसंग्रह नामक ग्रन्थों की रचना की।[२२] चक्रपाणिदत्त ने चरक पर आयुर्वेद दीपिका तथा सुश्रुत पर भानुमती नामक चिकित्सा ग्रन्थ की रचना की थी। विजयराज के आर्थुना अभिलेख (११०९ई०) से एक जैन वैद्य के विषय में जानकारी मिलती है जिसका पुत्र पोषक सम्पूर्ण आयुर्वेद का ज्ञाता था।[२३]

शिक्षण पद्धति : पूर्वमध्यकाल में शिक्षण की विधि प्रवचन के रूप में प्रचलित थी, जो एक प्रकार से प्रश्नोत्तर विधि थी जिसका विकास चतुष्पद प्रणाली के रूप में हुआ था। इसके अन्तर्गत पढ़ना-जिज्ञासा(प्रश्न), श्रवण(प्रवचन, प्रतिपादन), मनन (परिप्रश्न, विचार विमर्श, अध्ययन) एवं निदिध्यासन (पुनः पुनः ध्यान, अधिगम व पांडित्य जिज्ञासा) समाहित था। शिक्षण काल में गुरु प्रश्नों, चित्रों, लघु कथाओं, संक्षिप्त विचारों के माध्यमों से शिष्यों में मुख्य जिज्ञासा जागृत करते थे। निदिध्यासन का उद्देश्य ज्ञान को स्थायी बनाना था। अलबेरुनी के अनुसार हिन्दू लोग वेद को लिखने की स्वीकृत नहीं देते थे। क्योकि इसका प्रणयन स्वर में निश्चित आरोह -अवरोह के आधार पर होता है। अतः वे इसी कारण से लेखनी का प्रयोग नहीं करते हैं ताकि उसके लेखन में कुछ त्रुटि एवं लिखित अंश में कुछ न्यूनाधिक्य न हो जाय। फलतः इसमें अनेक लोगों ने वेदों को भुला दिया।[२४] वेदों के मौखिक ज्ञान का प्रचलन बहुत बाद तक रहा।[२५] अलबेरुनी ने वेदों के लिखित स्वरुप का वर्णन किया है।[२६] मेधातिथि, विस्वरुप एवं अपरार्क आदि पूर्वमध्यकालीन लेखकों के अनुसार शिष्य को गुरु के सान्निध्य में रहकर वेद का

वास्तविक ज्ञान एवं धर्म की समस्त धाराओं को समझना आवश्यक है।[२७] लक्ष्मीधर ने बृहस्पति को उद्धत करते हुए यह सलाह दी है कि ब्राह्मणों का पहला कर्तव्य वेद अध्ययन तदन्तर स्मृति और सदाचार का अनुपालन करना था।[२८] इस काल की शिक्षा प्रणाली में वही सिद्धान्त मान्य थे, जो धर्म ग्रन्थों में प्रतिपादित सिद्धान्तों के अनुकूल थे। वे तर्क पर आधारित नये वैज्ञानिक सिद्धान्तों को स्वीकार करने को उद्यत न थे।[२९] इस शिक्षा प्रणाली में आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी जीवन मूल्यों को विकसित करने की क्षमता थी। शिक्षा प्रणाली में स्वायत्ता इस काल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। पूर्व मध्यकालीन भारत में शासन तंत्र राजतंत्रात्मक था। शिक्षा की प्रणाली में लोकतंत्रात्मक मूल्य होते हुए भी उसका पूर्ण लोकतंत्रीकरण नहीं किया जा सकता था।

विचार गोष्ठी : पूर्वमध्यकाल में शास्त्रार्थों एवं विचारगोष्ठियों के अनेक उद्धरण प्राप्त होते है। ये गोष्ठियाँ विविध विषयों से संबंधित होती थी। इन विद्या गोष्ठियों में विद्वान एक दूसरे से मिलते थे, जिनमें धर्म, समाज, साहित्य, संगीत एवं ललित कला के विविध विषयों पर परिचर्चा एवं विचारों का आदान-प्रदान होता था। इसके फलस्वरुप अनेक प्रतिभाशाली विद्वान प्रकाश में आते थे। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि उस समय में अनेकानेक विद्वद्गोष्ठियाँ हुआ करती थी, जिनमें विभिन्न विषयों पर चर्चाएं होती थी।[३०] बाणभट्ट ने इस प्रकार से संबंधित गोष्ठियों को 'विद्यागोष्ठी' कहा है।[३१] कादम्बरी में भी 'काव्यगोष्ठियों' के आयोजन का वर्णन मिलता है, जिसमें प्रबन्धों के विषय और रचना पर विचार किया जाता था।[३२] 'प्रमाणगोष्ठी' में सभी विषयों की प्रामाणिकता पर विचार किया जाता था।[३३] 'वीरगोष्ठी' में वीरता एवं शौर्य से संबंधित रचनाओं पर चर्चा होती थी।[३४] पूर्वमध्यकाल में इस प्रकार से संबंधित गोष्ठियों में विद्वत, गुणी एवं प्रबुद्ध लोग सम्मिलित होते थे।[३५] मौखिक परीक्षाओं के द्वारा ज्ञान का परिष्कार किया जाता था।[३६] पृथ्वीराज चौहान तृतीय के दरबार मे जनार्दन तथा विद्यापति गोड़ नामक पण्डित दरबार में आने वाले लोगों के विद्वता का परीक्षणों एवं विवादों पर निर्णय देते थे।[३७]

इस युग में शास्त्रार्थ की परम्परा का उल्लेख भी देखने को मिलता है। विद्वान अपने प्रतिद्वन्दियों को लिखित पत्र द्वारा शास्त्रार्थ की चुनौती देते थे। यदि विद्वान उनकी सर्वोच्चता एवं विद्वता को स्वीकार नहीं करते थे तो उन्हें शास्त्रार्थ के लिए आना पड़ता था।[३८] एक विद्वान दूसरे विद्वान पर शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करते थे।[३९] विल्हण कन्नौज के स्थानीय विद्वानों से मिलने के लिए कन्नौज गया था। गाहड़वाल राजा गोविन्द चन्द के सुलह नामक विद्वान ने कश्मीर के राजा जयसिंह के मंत्री अलंकार द्वारा आयोजित शास्त्रार्थ में भाग लिया था। शास्त्रार्थ में जीतने वाले विद्वान को जय-पत्र दिया जाता था। कभी – कभी उन्हें जुलूस के साथ नाचते गाते पूरे नगर में घुमाया जाता था।[४०] काशी में होने वाले आचार्य शंकर एवं मंडन मिश्र का शास्त्रार्थ बहुत प्रसिद्ध है। अलबेरुनी ने भी विभिन्न विद्वद्गोष्ठियों की चर्चा की है।[४१]

शैक्षिक मूल्य: पूर्वमध्यकालीन शैक्षणिक मूल्य का मूल आधार धर्म था। इसमें विद्यार्थी का शैक्षणिक जीवन मूल्यपरक शिक्षा प्रणाली पर आधारित था। प्राचीन भारतीय समाज का लक्ष्य पुरुषार्थ था। इसमें जीवन के चार आधारभूत कर्त्तव्यों के रुप में पुरुषार्थ चतुष्टय अर्थात्

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार मूल्य माने जाते थे। इस शिक्षा प्रणाली का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थी को न केवल साक्षर बनाना था अपितु उसे सुसंस्कृत एवं सभ्य नागरिक बनाना था। इसके लिये उसमें त्याग, शिष्टाचार, विनय, कर्त्तव्यपरायणता एवं चरित्र निर्माण आदि गुणों का समावेश किया गया। विद्यार्थी में सहिष्णुता, सौहार्द, सत्यनिष्ठा और व्यवहार कुशलता जैसे गुणों का आधान करना शिक्षक का परम कर्त्तव्य था। इससे वह नैतिक एवं सदाचार के उच्च आदर्शों को प्राप्त करने में सफल होता था। बौद्ध शिक्षा प्रणाली का आधार महात्मा बुद्ध का जीवन दर्शन एवं चिन्तन था। महात्मा बुद्ध का जीवन एवं कार्य तथा उनकी शिक्षायें बौद्ध शिक्षा प्रणाली के महत्वपूर्ण शैक्षिक मूल्य थे। उसी प्रकार जैन दर्शन से अनुप्रमाणित जैन शिक्षा प्रणाली में जैन दर्शन के मूल्य निहित थे। महावीर स्वामी ने जैन धर्म को संस्थागत रुप में स्थापित करके जैन धर्म के सम्बन्ध में आचरण, व्यवहार के लिए अनेक मूल्यों का निर्माण किया। इनमें सत्य, अंहिसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य के साथ-साथ सहनशीलता, सहानुभूति, सहिष्णुता, विनम्रता, समन्वय, कठोर परिश्रम आदि मानवीय मूल्यों का समावेश किया गया था। यदि ब्राह्मण धर्म में कर्मकाण्ड को छोड़ दिया जाय तो वास्तव में जैन शिक्षा प्रणाली तथा परम्परागत ब्राह्मण शिक्षा प्रणाली में कोई विशेष मौलिक अन्तर नहीं था।

शिक्षा के केन्द्र : प्राचीन काल में आश्रम या कुटी जो गुरुकुल कहलाते थे वे शिक्षा के प्रमुख केन्द्र थे। पूर्वमध्यकाल में शिक्षा के प्रमुख केन्द्र विहारों, मठों एवं मन्दिरों द्वारा संचालित एवं संगठित होनें लगे। ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था का स्वरुप संस्थागत रुप धारण करने लगा। मन्दिरों को शैक्षिक केन्द्रों के रुप में विकसित किया जाने लगा था। मन्दिरों को विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के रुप में परिवर्तित किया गया। भूमिदान से प्राप्त अग्रहार, चतुर्वेदी मंगलम्, घाटिका आदि से शैक्षिक केन्द्रों का विकास हुआ। ब्राह्मण शिक्षा केन्द्रों को आर्थिक सहयोग राज्य तथा समाज के समृद्ध वर्ग के द्वारा प्राप्त होता था। इस प्रकार के आर्थिक सहयोग से संबंधित अनेक उद्धरण साहित्यिक एवं अभिलेखिय साक्ष्य से प्राप्त होते है। भेड़ाघाट अभिलेख के अनुसार गयाकर्ण की रानी अल्हणदेवी ने अपने पुत्र नरसिंहदेव के शासन काल में वैद्यनाथ शिवमन्दिर, मठ एवं व्याख्यानशाला का निर्माण करवाया।[१२] वत्सराजकृत हास्यचूडामणि ग्रन्थ में एक भगवत आचार्य के मठ में शैक्षणिक कार्य करने का वर्णन मिलता है।[१३] बौद्ध धर्म के विकास के साथ विहार, शिक्षा के केन्द्र बने। इनमें से कुछ शिक्षण संस्था के रूप में विकसित हुए। इस काल में नालंदा शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। इत्सिंग एवं हुएनसांग ने यहाँ क्रमशः तीन हजार एवं दस हजारविद्यार्थियों का उल्लेख किया है।[१४] इत्सिंग ने बलभी नगर को भी एक प्रसिद्ध शिक्षा केन्द्र के रुप में वर्णित किया है।[१५] इस काल में विक्रमशिला विश्वविद्यालय को पाल शासकों ने विशेष संरक्षण प्रदान किया। उन्होंने अनेक बौद्ध मन्दिरों एवं विहारों का निर्माण करवाया। इसके अतिरिक्त वाराणसी, कश्मीर, कन्नौज, मनपाल, अनहिलपाटन, नागौर, उज्जैन, धारा आदि पूर्वमध्यकाल में उत्तर भारत के प्रमुख शिक्षा के केन्द्र थे। अलबेरुनी के विवरण से ज्ञात होता है कि महमूद गजनवी के आक्रमणों के फलस्वरुप अनेक शिक्षा केन्द्र नष्ट हो गये तथा उनका ज्ञान उन्हीं प्रदेशों तक सीमित रह गया जहाँ मुसलमानों का अधिकार नहीं था।[१६]

इस काल में दक्षिण भारत में शैक्षणिक केन्द्र मन्दिरों से संबंधित थी। विक्रमादित्य षष्ठ के धार्मिक मामलों के एक मन्त्री द्वारा शिक्षा के लिये एक सभाभवन, शैव मठ एवं दानशाला का निर्माण करवाने का उल्लेख मिलता है।[४७] यादव नरेश सिंघण ने ज्योतिष अध्ययन के लिये एक मठ की स्थापना करवाया। राजेन्द्र चोल के समय ब्राह्मणों से संबंधित 'एन्नारियम देवालय विद्यापीठ' (चतुर्वेदी मंगलम) शिक्षा का केन्द्र था। गंगैकोण्डचोलमण्डप मन्दिर भी चोलकालीन शिक्षा का प्रमुख केन्द्र रहा। वेंकटेशपेरुमल मन्दिर में शिक्षण के साथ आवासीय सुविधा भी उपलब्ध थी। तिरिमुक्कुदल का मन्दिर देवालय के रुप में स्थापित था। बीजापुर के सालोत्गी देवालय विद्यापीठ में विद्यार्थियों के अध्ययन की व्यवस्था के लिये बारह सौ एकड़ भूमि का अनुदान प्राप्त था। यहाँ अध्ययन के साथ ही वास्तुकला, शिल्पकला, चित्रकला, मूर्तिकला, नाट्य, संगीत, नृत्य आदि के विकास के लिये भी सहयोग प्रदान किया जाता था।[४८] काँची का विकास शिक्षण केन्द्र के रुप में हुआ था।

स्त्री शिक्षा : पूर्वमध्यकाल में सामान्य स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का उचित अवसर प्राप्त नहीं था। केवल राजपरिवार, कुलीन एवं सम्भ्रांत वर्ग की स्त्रियाँ ही शिक्षा ग्रहण करती थी। स्त्रियों की शिक्षा में गिरावट का मुख्य कारण बाल-विवाह, संस्कार में अवरोध, सामाजिक तथा धार्मिक स्थिति में गिरावट आदि रही। बौद्ध धर्म के पतन से भी शिक्षा में गिरावट आयी। बौद्ध संघ स्त्रियों की शिक्षा पर विशेष बल देते थे। विभिन्न स्मृतिकारों ने स्त्रियों की शिक्षा पर प्रतिबन्ध लगा दिया तथा उनके उपनयन में वैदिक मन्त्रों का उच्चारण बन्द करा दिया। कालान्तर में उनका उपनयन भी समाप्त हो गया। यद्यपि उच्च वर्ग में शिक्षित स्त्रियों की कोई कमी नहीं थी। इस युग में अनेक ऐसी प्रज्ञा सम्पन्न एवं विदुषी स्त्रियों का विवरण मिलता है, जो तर्क, मीमांसा, वेदान्त, एवं साहित्य में पूर्ण पारंगत थी। इनमें मण्डन मिश्र की पत्नी भारती, राजेशखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी एवं भास्कराचार्य की पुत्री लीलावती प्रमुख थी। राजशेखर के काव्यमीमांसा से ज्ञात होता है कि अनेक राजकुमारियाँ, अभिजात कुलों की कन्याएं एवं वैश्याएं भी इस काल में भी संस्कृत काव्य एवं शास्त्रों में निपुण होती थी।[४९] उपमितिभवप्रपंचकथा से ज्ञात होता है कि इस काल की अनेक राजकुमारियाँ चित्रकला, संगीत एवं काव्य पाठ करने में निपुण होती थी।[५०] इस काल में शासक वर्ग की स्त्रियों को सैन्य शिक्षा दी जाती थी।[५१] किन्तु उच्च, कुलीन एवं राजपरिवारों में स्त्री शिक्षा के प्रिय विषय कथा – अपभ्रंश, संगीत तथा अन्य ललित कलाएँ थी।[५२] प्रत्येक राजकुमारी की शिक्षा के आवश्यक विषय के रूप में गीत, नृत्य, वाद्य आदि का उल्लेख किया गया है। तिलकमंजरी ने स्वयं चित्रकला, वीणादि वाद्यों का वादन, लास्य, ताण्डव नृत्य, संगीत, पुस्तकर्म तथा विभिन्न प्रकार की पत्रच्छेद रचनादि, विदग्ध मनोरंजन एवं योग्य कलाओं में भी निपुणता प्राप्त की थी।[५३] पूर्वमध्यकाल में सहशिक्षा के प्रमाण प्राप्त होते है, जिसमें स्त्री एवं पुरुष दोनों समान रुप से शिक्षा ग्रहण करते थे। भवभूति ने सहशिक्षा का उल्लेख किया है। कामन्दकी ने भूरिवस एवं देवराट के साथ शिक्षा ग्रहण की थी।[५४] किन्तु इस काल में स्त्री शिक्षा के अवसान के कारण सहशिक्षा को भी अघात लगा तथा कालान्तर में यह लगभग समाप्त हो गया। इस काल के जैन समाज में स्त्री शिक्षा के संबंध में अनेक उद्धरण प्राप्त होते है। जैन ग्रन्थों में उच्च

शिक्षा प्राप्त करने वाली महिलाओं को "पण्डिता" आदि उपाधियों से विभूषित करने का उल्लेख मिलता है।[५५] प्रबन्धचिन्तामणि में बाल पण्डिता ने जले हुए तिलकमंजरी के आधे भाग को स्मरण कर उसका पुनरुद्धार ही नहीं किया बल्कि शेष आधे भाग को पूरा भी किया।[५६] प्रबन्धकोश में वर्णित है कि बाल विधवाएं अपने गृह कार्य से अवकाश पाने पर अन्य विद्याओं के अध्ययन में भूली रहती थीं।[५७]

निष्कर्ष : उपरोक्त विवरणों से विदित होता है कि पूर्व मध्यकाल में शिक्षा का स्वरुप मूल्यों पर आधारित रहा। ये मूल्य शिक्षा के विविध पक्षों यथा उद्देश्य, पाठयक्रम, शिक्षण विधि, चरित्र निर्माण एवं व्यक्तित्व विकास, कर्तव्यों का पालन एवं गुरु-शिष्य सम्बन्ध आदि पर अवलम्बित था। यह काल राजनीतिक दृष्टि से विकेन्द्रीकरण का था, जिससे सम्पूर्ण भारत में एक समान शिक्षा व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकी। इसके परिणाम स्वरुप शिक्षा व्यवस्था का विकास स्थानीय एवं क्षेत्रीय स्वरुप के रुप में विकसित हुआ। इस राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के कारण शिक्षा पर दूसरा महत्वपूर्ण प्रभाव विदेशी अरब एवं तुर्क आक्रान्ताओं का था, जिन्होंने शैक्षणिक केन्द्रों को नष्ट कर दिया। पूर्व मध्यकाल में सामाजिक मूल्यों में गिरावट के कारण शैक्षिक व्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा। शिक्षा का अधिकार मुख्य रुप से केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को ही प्राप्त था। शिक्षा के लिए उपनयन संस्कार महत्वपूर्ण था। उपनयन संस्कार से शूद्र तथा स्त्रियाँ वंचित थी, जिसके फलस्वरुप इन दोनों को शिक्षा प्राप्त करने के उचित अवसर नहीं मिल सके। यद्यपि कुलीन वर्ग की स्त्रियाँ अपने व्यक्तिगत प्रयासों द्वारा घर पर शिक्षा प्राप्त करती थी। इस काल में सभी वर्गो को शिक्षा न मिलने के कारण सम्पूर्ण समाज का सर्वांगीण विकास अवरुद्ध सा हो गया था। पूर्व मध्यकाल में भूमिदान की प्रथा प्रचलित रही, जो ब्राह्मणों को प्रदत्त किया जाता था। कर रहित इस भूमि का उपयोग शिक्षण संस्थाओं के विकास एवं संचालन के लिए किया जाता था। भूमिदान से प्राप्त अग्रहार, चतुर्वेदी मंगलम्, घाटिका आदि शैक्षिक केन्द्रों का विकास हुआ। शासन तथा समाज के समृद्ध वर्गों द्वारा भी शिक्षा केन्द्रों को आर्थिक सहयोग प्राप्त होता था। शिक्षा तथा शिक्षा-प्रणाली में स्वायत्ता इस काल की महत्वपूर्ण उपलब्धि है। ब्राह्मण शिक्षा व्यवस्था का स्वरूप इस काल में संस्थागत रूप धारण करने लगा था। मन्दिरों को शैक्षिक केन्द्रों के रुप में विकसित किया जाने लगा था। इस काल में बौद्ध विहार भी शिक्षा के केन्द्र के रुप में खूब विकसित हुये। इन केन्द्रों में शिक्षा प्राप्ति के अधिकार को समाज के सभी वर्गों के लिए प्रदान किया गया था। शिक्षा के सार्वजनीकरण की दृष्टि से बौद्ध शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण योगदान है। जैन शिक्षा प्रणाली के विकास के लिए राजतंत्रों के समर्थन के साथ -साथ व्यापारियों का भी सहयोग प्राप्त हुआ। शिक्षा को संपूर्ण राज्य तथा समाज का सामूहिक कार्य माना जाता था। शिक्षा में मात्रा की अपेक्षा गुणवत्ता पर अधिक बल दिया जाता था। तथ्यात्मक स्मरण की अपेक्षा बोध को श्रेयष्कर समझा जाता था। शिक्षक का सम्मान विद्वता एवं गुणों के कारण ही था। शिक्षक तथा विद्यार्थी दोनों को अपने कर्तव्य का पालन कठोरतापूर्वक करना पड़ता था। इस समय की शिक्षा प्रणाली में आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक, सभी जीवन मूल्यों को विकसित करने की क्षमता थी। शिक्षा का उद्देश्य मानव को आध्यात्मिक

उन्नति की ओर अग्रसर करना था। संभवत: इसीलिये शिक्षा को 'मुक्तिदायिनी' कहा गया है 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात् शिक्षा ही वह साधन है, जो मनुष्य को अज्ञानता तथा सर्व बंधनों से मुक्त कराती है।

सन्दर्भ :

१. अल्तेकर, ए०एस०, एजूकेशन इन एन्शियन्ट, बनारस, १९५१, पृ० १६, १७
२. याज्ञवल्क्यस्मृति, अपरार्क की टीका सहित, वाराणसी, १९३०, पृ० ३०, ३१
३. इत्सिंग, ए रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलीजन, टकाकुसु, जे०(अनु०) आक्सफोर्ड, १८९६, पृ० १६५
४. मिश्र, जयशंकर, ग्यारहवीं शताब्दी का भारत, वाराणसी, १९६८, पृ० १६५
५. कल्हणकृत राजतरंगणी, संपादक रामतेज पाण्डेय, वाराणसी, १९६०, VI ८९
६. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, नई दिल्ली, १९९२ (पंचम संस्करण), पृ० ५१८
७. वाटर्स, टी०, आन युवांग च्वांग ट्रवेल्स्ट इन इण्डिया, पूर्वोक्त, पृ० १६०
८. पूर्वोक्त, राजतरंगिणी, ८.२३९५-९७
९. सोमेश्वर कृत मानसोल्लास, (तीन खण्डों में संपादित) गायकवाड़, ओरिएन्टल सीरिज, बड़ौदा, १९३९, पृ० १२
१०. एपिग्राफिया इंडिका, I, २२७
११. एपिग्राफिया इंडिका, XX, ६७
१२. दण्डिनकृत दशकुमारचरित, एम०आर० काले (सम्पादक), ओरिएण्टल पब्लिशिंग कम्पनी बम्बई, १९१७, पृ० २१-२२
१३. लक्ष्मीधरकृत, कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारी काण्ड, गायकवाड ओरियन्टल सीरिज बड़ौदा, १९४८, पृ० २४०
१४. पूर्वोक्त, इत्सिंग, पृ० ११७-२०
१५. वही, १०५-१०६
१६. अल्तेकर, ए०एस०, एजूकेशन इन एन्शियन्ट, बनारस, १९५१, पृ० २७२
१७. लक्ष्मीधरकृत कृत्यकल्पतरु, ब्रह्मचारी काण्ड, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज बड़ौदा, १९४८, पृ० २२
१८ सरचाऊ, ई०सी०, अलबेरुनीज इण्डिया, भाग-१, लन्दन, १९१०, पृ० १३५, १५२

१९. राजशेखरकृत काव्य मीमांसा, सी०डी० दलाल तथा आर्यशास्त्री द्वारा संपादित, बड़ौदा, १९३४, पृ० ४

२०. दण्डितकृत दशकुमार चरित, मोतीलालत बनारसीदास, वाराणसी, १९६६ (चतुर्थ संस्करण), पृ० ११

२१. सचाऊ ई०सी०, अलबेरुनीज इण्डिया, भाग-१, लन्दन, १९१०, पृ० १३५, १५२

२२. रेउ, विश्वेवरनाथ, राजा भोज, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, इलाहाबाद, १९३२, पृ० २३६-३७

२३. एपिग्राफिया इंडिका, XVII, ४९

२४. पूर्वोक्त, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० १७०

२५. कृत्यकल्पतरु, लक्ष्मीधर, दानकण्ड, खण्ड ११, बड़ौदा, १९४१-५३, पृ० २५२

२६. पूर्वोक्त, ग्यारहवी सदी का भारत, पृ० १७०ए १७१

२७. मेधातिथि, मनु० ३.१, याज्ञ०, १.५७, अपरार्क, पृ० ७४-७५

२८. कृत्यकल्पतरु, लक्ष्मीधर, गृहस्थकाण्ड, खण्ड ११, बड़ौदा, १९४१-५३, पृ० २५२

२९. ओमप्रकाश, प्राचीन भारत का सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास, वाइली ईस्टर्न लिमिटेड, नई दिल्ली १९८६ (तृतीय संस्करण), पृ० २१५

३०. बाणभट्टकृत हर्षचरित, जीवानन्द विद्यासागर (सम्पादक), कलकत्ता, १८९२, सर्ग-१ समानविद्याविलशीलबुद्धिवयसामनुरुपेरासापेरेकत्रासनवन्धो गोष्ठी।

३१. वही

३२. बाणभट्टकृत कादम्बरी, मथुरानाथ शास्त्री (सम्पादक), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९४८, पृ० ४

३३. पूर्वोक्त, हर्षचरित, सर्ग-३

३४. वही, सर्ग-१

३५. वही

३६. धनपालकृत, तिलकमंजरी, शास्त्री भवदत्त एवं काशीनाथ पाण्डुरंग परब (सम्पादक), बम्बई, १९०३

३७. जयानककृत, पृथ्वीराज विजय, अजमेर, १९४७, प्रथम अंक, श्लोक ६ से ३०

३८. श्रीहर्षकृत, नैषधीयचरित्, पंडित शिवदत्त (सम्पादक), निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९१९, ७, ९३ X ८३ XIV ६६

३९. पूर्वोक्त, नैषधीयचरित्, २१-१३४, पृ० २०५
४०. सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचकथा, पिटरसन (सम्पादक), कलकत्ता, १८९९, पृ० ५६०-६१
४१. पूर्वोक्त, ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ० १६-१७
४२. एपिग्राफिया इण्डिका, VI, २९८
- कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, खण्ड चतुर्थ, पृ० ३२०-२१
४३. वत्सराजकृत हास्य चुड़ामणि रूपक, पृ० १२३
४४. वाटर्स, टी०, आन युवांग च्वांग ट्रेवेल्स इन इण्डिया, टी० डब्ल्यू रिज डेविड्स तथा एस०डब्ल्यू बुशेल (संपादक), भाग, दो, लंदन, १९०४-०५, पृ० १६५
४५. पूर्वोक्त, इत्सिंग, पृ० १७७
४६. सचाऊ, ई०सी०, अलबेरुनीज इण्डिया, भाग-२, लन्दन, १८८८, ११ए २२
४७. एपिग्रीफिया इंडिका, II, ७
४८. झा, द्विजेन्द्र नारायण, एवं श्रीमाली, कृष्ण मोहन, नई दिल्ली, १९८१, पृ० ४१०
४९. राजशेखरकृत काव्यमीमांसा, सी०टी० दलाल तथा आर्यशास्त्री (संपादक), बड़ौदा, १९३४, पृ० ५३
५०. सिद्धर्षिकृत उपमितिभवप्रपंचाकथा, पिटरसन (सम्पादक), कलकत्ता, १८९९, पृ० ३५३-५९
५१. महापुराण, वैद्य, पुष्पदंत (सम्पादक), खण्ड, प्रथम, बम्बई १९४७, १-V-१८
५२. वही
५३. धनपालकृत, तिलकमंजरी, शास्त्री, भवदत्त एवं परब के०पी० (सम्पादक), बम्बई, १९०३
५४. भवभूतिकृत मालतीमाधव, जगद्धर (सम्पादक), एम०आर० तेलंग, बम्बई, १९००, अंक १, अयि किं न वेत्सि यदकेत्र नी विद्यापरिग्रहाय नानादिगन्तवासिनां साहचर्यमासीत्।
५५. राजशेखरकृत प्रबन्धकोष, मुनिजिनविजय (सम्पादक), शान्तिनिकेतन, १९३५, पृ० १००
५६. मेरुतुंगाचार्यकृत प्रबन्ध चिन्तामणि, अंग्रेजी अनुवाद सी०एच० टॉनी, कलकत्ता, १८९९, पृ० ३६
५७. पूर्वोक्त, राजशेखरकृत प्रबन्धकोष, पृ० ६४

●